International Journal of Advanced Research and Multidisciplinary Trends (IJARMT)
Volume 1 Issue 1 July – September 2024
Website: https://ijarmt.com

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग क्रिया का एक अध्ययन

आरती कुमावत

शोधार्थी, संस्कृत विभाग, मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान

सारांश

आज के युग में कार्य–कुशलता के लिए प्रत्येक विभाग में भले ही शिक्षण–प्रशिक्षण की व्यापक व्यवस्थाएँ हैं किन्तु जीवन जैसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में इसका अभाव है। यही कारण है कि अपनी कार्य–कुशलता से धन–वैभव, कार–बंगला, पद–प्रतिष्ठा तो मनुष्य प्राप्त कर लेता है, किन्तु जीवन जीने की कला में अपरिपक्व होने के कारण सुख–शान्ति से अछूता ही रह जाता है। पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा से उत्पन्न दम्भ, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, क्रोध आदि मनोविकार उसके प्रेम, मैत्री, सौहार्द एवं सरलता के साथ ही साथ उसकी प्रसन्नता भी चली जाती है। नकारात्मक विचार उसके जीवन को दुर्वह बना देते हैं। फलतः वह थका–हारा जीवन की सरसता से शून्य, विभिन्न रोगों से ग्रस्त होकर दुःखी जीवन बिताने को बाध्य हो जाता है।

कर्म प्रकृति का अटल सिद्धान्त है। निष्क्रियता प्रकृति को सहन नहीं है। कोई भी जीव बिना कर्म किये किसी क्षण नहीं रह सकता है। इसलिए निर्धारित कर्म से भाग कर सुख–शान्ति, सफलता और कल्याण सम्भव नहीं है। प्रत्येक स्थिति में अपनी रुचि और क्षमता अनुकूल कर्म का चुनाव कर निर्धारित कर्म को निष्ठापूर्वक करते रहना चाहिए –

'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति'

मूख्य शब्द – कर्मयोग, आसक्त, निष्काम, परब्रह्म, सृष्टि, याज्ञकर्म, वर्णाश्रमधर्माश्रित।

कर्म के अन्तर्गत वैदिक कर्मकाण्ड और वर्णाश्रमधर्माश्रित कर्म आते हैं। इन्द्रियों द्वारा सम्पादित क्रियाएँ सामान्य रूप से कर्म है। कर्म की बड़ी महिमा है। कर्म से ही बन्धन मिलता है, कर्म से ही मोक्ष मिलता है व कर्म से ही उत्थान और कर्म से ही पतन होता है। कर्म ही वह सीढ़ी है जो मनुष्य को ऊपर ले जाती है तथा नीचे भी वही ले आती है। कर्म जीवन है और कर्मशून्यता मरण है। यदि सत्य कहा जाय तो कर्मशून्य जीवन की कल्पना सम्भव नहीं है। देखना–सुनना, चलना–फिरना, सोना–जगना, उठना–बैठना, ग्रहण–त्याग, सोचना–विचारना

सब क्रियाएँ ही हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण ने स्वयं कहा है – कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्था में क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता है।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कर्म प्रकृति का नियम है तथा विधाता का आदेश है। परब्रह्म द्वारा सृष्टि–रचना का विचार और समय–समय पर अवतार लेते रहना उनका कर्म–सन्देश है। निर्गुण–निराकार ब्रह्म ने महासृष्टि के आदि में 'एकोऽहं बहुस्याम' के संकल्परूपी कर्म द्वारा कर्म की नींव डाल दी। उनके संकल्प का हस्ताक्षर कर्म का कारण बना। परब्रह्म के अव्यक्त शरीर से प्रजापति ब्रह्मा उत्पन्न हुए और उन्होंने जड़–जंगम जगत् की रचना की तथा अपनी संरचना की सुरक्षा और विकास के नियम के रूप में याज्ञकर्म करते रहने का आदेश दिया –

सहयज्ञाः प्रज्ञाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष बोऽस्त्विष्टकामधुक्।।
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।

इस प्रकार अपनी दिव्य रचना सृष्टि के सुचारु रूप में संचालन के हेतु यज्ञ के रूप में विधाता ने ही कर्म का प्रथम सन्देश दिया है।

कर्म में दिव्यता–दर्शन हेतु उसे यज्ञ कहा गया है। शुभकर्म और यज्ञ को समानार्थी माना गया है। वैदिक आर्य–जीवन यज्ञमय था। प्रत्येक शुभकर्म यज्ञ था – 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'। सम्पूर्ण शुभकर्म का प्रसार यज्ञ की परिधि में था। पञ्चमहायज्ञों, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ और मनुष्ययज्ञ के अन्तर्गत समग्र नागरिक और नैतिक कर्तव्यों का समाहार था। देवयज्ञ में गृहस्थ प्रातः और सायं भोजन तैयार हो जाने पर देवों को हवि प्रदान करता था। पितृयज्ञ में परलोकवासी पितरों को तर्पणादि से तृप्त किया जाता था। भूतयज्ञ में भूखे प्राणियों को भाजन दिया जाता था। ब्रह्मयज्ञ में आध्यात्मिक चिन्तन, वेद–वेदांगों का अध्ययन, सद्ग्रन्थों का वाचन, पठन–पाठन सम्मिलित था। मनुष्ययज्ञ में भूखे मनुष्यों, अतिथियों, भिक्षुओं, साधु–संन्यासियों को भोजन कराया जाता था। सन्ध्योपासना के रूप में सृष्टि के जीवनाधार तेजपुञ्ज सविता देवता की उपासना की जाती थी। ये वैदिक काल में नित्यकर्म थे, जिनका करना प्रत्येक गृहस्थ हेतु अनिवार्य था।

इन कर्मों के अतिरिक्त वर्णाश्रम पर आधारित सबके अपने–अपने कर्म थे, जिनका निष्ठापूर्वक सम्पादन परमकर्तव्य माना जाता था। इनका जीविकोपार्जन से सम्बन्ध था। किन्तु यज्ञ की दिव्य उदात्त भावना के कारण इनमें भव्यता और कर्तव्यशीलता का विशेष समावेश था। इस प्रकार यज्ञ–भावना से भावितकर्म में जीविकोपार्जन के साथ ही प्राणिमात्र की सेवा, व्यापक लोकहितैषणा का समानान्तर समावेश था। ग्रहण से अधिक त्याग और अधिकार से अधिक कर्त्तव्य को प्रतिष्ठा प्राप्त थी। पर्यावरण–शोधन के वैज्ञानिक सिद्धान्त से अनुप्राणित हवन–कर्म के आधिक्य और प्रत्येक शुभ कर्म का हविर्धूम से समापन होने यज्ञ शब्द श्रवणमात्र से आँखों के सामने हवन–कुण्ड और हविर्धूम का दृश्य खड़ा हो जाता है। अपने अर्जन को कथित यज्ञों–कर्मों में नियोजन के उपरान्त ही उपभोग की अनुज्ञा गीता में है। जो कृती यज्ञावशिष्ट का उपभोग करता है, वह पापों से मुक्त हो जाता है, किन्तु विपरीत आचरण करने वाला जो आत्म–हित में समग्र अर्जन का उपभोग करता है, वह पापी है वह अन्न नहीं पाप खाता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्म कारणात्।।

जीव के द्वारा कमाना, खिलाना, फिर खाना यही विधि–सम्मत व्यवस्था है, इसका उल्लंघन करने वाला पापी है –

ये भुङ्क्ते स्तेन एव सः

वैदिक जीवन–दर्शन प्रवृत्ति–प्रधान होते हुए भी त्यागपूर्ण था। शनैः शनैः कर्म में सकामता का प्रवेश होने लगा। फलतः भोग–लिप्त जीव यज्ञों को लोक–परलोक में अखण्ड सुख–भोग का साधन मानकर सोमयज्ञादि जटिल, व्यय, श्रम तथा समय–साध्य यज्ञों का अनुष्ठान करने लगे। यज्ञों में सादगी और लोकप्रियता के स्थान पर पेचीदगी और व्यक्तिपरकता का प्रवेश होने लगा। इन्हीं वैदिक यज्ञों का विरोध गीता के द्वितीय अध्याय के 42 से 45वें श्लोकों में हुआ है। विविध यज्ञों के प्राधान्य ने कर्म–मार्ग को मीमांसाशास्त्र–सम्मत श्रौत ग्रन्थों में वर्णित यज्ञों का पर्याय बना दिया। यज्ञों की हिंसापरकता तथा सकाम भावना ने वेदान्त के ज्ञान–मार्ग को जन्म दिया।

ज्ञान–मार्ग को कर्म–मार्ग की प्रतिक्रिया भी कहा जा सकता है। प्रतिक्रिया में विरोधी आचरण का आना स्वाभाविक है। फलतः ज्ञान–मार्ग में कर्म–त्याग की अतिवादिता हो गयी। समाज का नवनीत–स्वरूप प्रबुद्ध वर्ग संन्यासी बनकर निष्क्रिय हो जाय, यह योगेश्वर कृष्ण को

असह्य था। 'कर्म' सकामता–स्वार्थपरता के दोष और 'ज्ञान' कर्म–त्याग की निष्क्रियता के दोष से ग्रस्त था। योगेश्वर कृष्ण ने लोकपरक पञ्चमहायज्ञों में विकसित कर्मवाद की कर्म–क्षेत्र में स्थापना करनी चाही और लोलुपता तथा स्वार्थपरकता से मुक्त करने हेतु निष्काम कर्मयोग की मान्यता मुखरित की। कर्म योग तभी होगा, जब वह निष्काम भाव से होगा। सकाम कर्म योग नहीं अपितु योग है।

फल के प्रति आसक्ति को त्यागकर शास्त्रानुमोदित नियत कर्म को कर्त्तव्य–भावना से निष्ठापूर्वक कर्म करना निष्काम कर्मयोग है। गीता में इसी को 'मदर्थ कर्म', 'मत्कर्म' आदि भी कहा गया है। पदार्थों को प्रकृति का मानकर उनसे अनासक्त रहना ज्ञान–योग है और संसार का मानकर उनसे अनासक्त रहना कर्मयोग है। अनासक्ति सामान्य कर्म को भी योग बना देती है। जो कुछ सब संसार का है, संसार से मिला है, संसार में ही छूट जायेगा, इस भावना से आपूरिक होकर पदार्थों से अपनत्व के लगाव को हटाकर कर्मरत रहना निष्काम कर्मयोग है। मनुष्य प्रकृति का एक अंश है। प्रकृति निष्कर्मता सिखाती है। सूर्य समान से ताप व प्रकाश फैलाता है। उसके प्रकाश में सत्कर्म और दुष्कर्म दोनों होते हैं, किन्तु सूर्य एक व्यवस्था के अन्तर्गत अनासमा भाव से क्रियारत हैं। किसी के भी प्रति राग या द्वेष या स्वप्रेरित आग्रह उसमें नहीं है। इस स्थिति में उसके प्रकाश–विकिरण की क्रिया उसका कर्मयोग है। वह निष्काम कर्मयोगी है। यही निष्कर्मता का रहस्य है। प्रकृति में सर्वत्र निष्कर्मता है, निष्क्रियता नहीं है। निष्कर्मता के कारण प्रकृति निर्दोष मानी जाती है। इस क्षेत्र में वह अनुकरणीय है। कर्म ही पूजा है, इसका स्पष्ट कथन गीता में है –

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

सकाम भाव–कृत कर्म, कर्मबन्धन है। फल के आश्रित बँधकर लटकता जीव आशा–निराशा, राग–द्वेष, भय–क्रोध के थपेड़े सहता रहता है। कर्म का करना तो अपने हाथों में है, किन्तु फल पाना समाज और प्रारब्ध के हाथों में है। कर्म में स्वाधीनता और फल में पराधीनता है। पराधीनता से बचने में श्रेय है, इसलिए भगवान् ने कहा है–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

हम फल की कामना में उद्विग्न बनें, त्रिशंकुवत् लटके रहें, तभी फल मिलेगा, यह सोचना भूल है। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' – यह भगवान का स्पष्ट कथन है। शुभकर्मों की कभी दुर्गति नहीं होती –

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।

कर्म जब सकाम भावना सेहोते हैं, तब वे बन्धनप्रद होते हैं। सत्कर्म और दुष्कर्म दोनों कर्म हैं, अस्तु दोनों ही बन्धन है। एक को हम सोने और दूसरे को लोह की हथकडी कह सकते हैं। सोने की हथकड़ी की चमक–दमक का आकर्षण तो अतिरिक्त मोह उत्पन्न करता है। आसक्ति का त्याग कर्म–बन्धन से मुक्ति का उपाय है। अनासक्ति का त्याग कर्म–बन्धन से मुक्ति का उपाय है। अनासक्ति की स्थिति में कर्म 'अकर्म' बन जायेंगे और भुने दाने की भाँति उनमें अंकुरण की शक्ति समाप्त हो जायेगी, फलतः नये कर्मों के बनने का क्रम समाप्त हो जायेगा। मै। और मेरापन ही अहंता और आसक्ति नितांत असंगत और अस्वाभाविक है। हम जिस शरीर और पदार्थ को अपना कहते हैं, वह ज्ञानयोग की दृष्टि से संसार का है न ही हमारे साथ आया है और न ही हमारे साथ जायेगा। यदि कर्मयोग की दृष्टि से सोचें कि हमारा क्या है जो हमसे छूट गया, हम क्या लाये थे, जो हमारे साथ जायेगा। ज्ञानप्रधान दृ ष्टिकोण के उपासक हो तो उसे प्रकृति का समझो। कर्म और भक्ति प्रधान विचार के हों तो उसे क्रमशः संसार और भगवान् का समझकर अनासक्त भाव से उन्हें समर्पित करना चाहिए। कर्मबन्धन से मुक्तिहेतु निम्नलिखित विचारणा आवश्यकता है, यथा – लाभसंतोष, द्वन्द्व–मुक्त जीवन, ईर्ष्या का अभाव, सिद्धि–असिद्धि में समभाव होना चाहिए –

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निषध्यते।।

सामान्यतः ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों द्वारा कृत चेष्टाएँ कर्म है। अच्छी या बुरी क्रियाओं में जब मैं और मेरापन जोड़ दिया जाता है, तब वे कर्म बन जाती है। जब यह मैं और मेरापन का लगाव खींच लिया जाता है, तब वे क्रियाएँ अकर्म बन जाती हैं। अकर्म कर्म की आदर्श स्थिति है, अकर्म कर्म–बन्धन को काटकर मुक्ति देने में समर्थ है। विकर्म कर्म का निकृष्ट रूप है। दुर्भावनाग्रस्त, उत्पीड़नार्थ, निकृष्ट मानसिकता और स्वार्थ–भावना से कृत कर्म–विकर्म बन जाते हैं। विकर्म का ही दूसरा नाम पाप–कर्म है।

गीता में योगेश्वर कृष्ण ने कर्म की गति को सूक्ष्म गहन बताया है। कर्म में विवेक की बड़ी आवश्यकता होती है। इसी विवेक के अभाव में धर्म के नाम पर अधर्म हो जाता है, अच्छाई की ओर बुराई जो जाती है। कर्म के स्वरूप–निर्णय में नीयत का बड़ा महत्त्व है। एक ही क्रिया यदि स्वहित तो अकर्म, निकृष्ट मानसिकता से हुई तो विकर्म बन जाती है। हिंसा,

रक्तपात, वध आदि क्रियाएँ यदि निकृष्ट मानसिकता से स्वहित में हुई तो विकर्म, उदात्त मानसिकता से लोकहित में हुई तो अकर्म बन जाती हैं। किसी क्रिया के कर्म, अकर्म, विकर्म बनने में उसके बाह्य औपचारिक रूप का नहीं, आन्तरिक अनौपचारिक रूप और नीयत का महत्त्व है। कर्म का बाह्य रूप धर्म जैसा है अथवा अधर्म जैसा, इसका विशेष महत्त्व नहीं है। इसीलिए भगवान् ने कहा है–

कर्मणो ह्यापि बोद्धव्यं च विकर्मणः।

अकर्मणश्च बौद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।

स्वार्थ–भाव, ममता, अहंता से हटकर निरपेक्ष भाव से लोकहित में यदि सम्पूर्ण लोकों का वध कर दिया जाये तो भी वह वध पाप नहीं होगा –

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते।।

उपसंहार

कर्म जीवन का लक्षण है। कर्म से सर्वथा मुक्ति असम्भव है। कर्म होगा तो फल भी मिलेगा। आसक्त और अनासक्त दोनों कर्मों का फल मिलता है। फलासक्ति में कर्म, भोग और अनासक्ति में योग बन जाता है। फलासक्ति कर्ता में लोभ, क्रोध, द्वेष, भय, मोह और तनाव पैदा करती है, किन्तु अनासक्ति इन विकारों से मुक्ति दिलायेगी। सकाम कर्म में सन्तोष न रहने से वर्तमान के लाभ असन्तुष्ट होकर वह भविष्य के अधिक लाभ हेतु लालायित और अशान्त देखा जाता है। निष्काम कर्मी पूर्णकाम हो जहाता है।

उस अन्तर्मुखी साधक को भौतिक सुखों और उनके सर्वोपरि अधिष्ठान स्वर्ग से उतना ही प्रयोजन रह जाता है, जितना कि लबालब जल से भरे महान् सरोवर के प्राप्त हो जाने पर छोटे सरोवर में रह जाता है –

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।

तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. श्रीमद्भगवद्गीता , गीता प्रेस गोरखपुर1992

2. श्रीमद्भागवत् महापुराण (द्वितीय खण्ड), गीताप्रेस, गोरखपुर,1887
3. स्वामी विवेकानन्द–रामलाल–शरद प्रकाशन, आगरा 1993
4. मनुस्मृति 6/35, मोतीलाल बनारसी दास,1889
5. भारतीय दर्शन, भाग–1, राजपाल दिल्ली एण्ड सन्स,1992
6. धर्म दर्शन की रूपरेखा दिल्ली, मोतीलाल बनारसी दास,1991
7. श्रीमद्भगवद्गीता में जीवन–दर्शन, आकुर्ली रोड, पूर्वी मुंबई,1883
8. नीतिशास्त्र की रूपरेखा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसी दास,1880